

भोजपुरी कविता और उसका सौन्दर्यशास्त्र

डॉ० मुन्ना तिवारी*

भारतीय कला चिन्तन और पश्चिम के कला चिन्तन में एक मौलिक फर्क है। पश्चिम की कला साधना में अनुकरण वृत्ति की बहुलता है। यह अनुकरण वृत्ति अभिव्यक्ति में अधिक प्रदर्शित होती है जबकि भारतीय कला सौन्दर्य चेतना 'अनुकीर्तन की सौन्दर्य की कला चेतना है।' विद्वानों ने इसके पार्थक्य के ढेर सारे अवलम्ब और उद्धरण सामने रखे हैं। जिसमें सौन्दर्य के साथ पूरा सौन्दर्यशास्त्र भी रूपायित है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० के०सी० पाण्डेय ने लिखा है कि भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र की तरह काव्येत्तर कलाओं के विवेचन की प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु काव्य के क्षेत्र में भारतीय काव्य-शास्त्र को नाटक अधिक प्रिय है, जिसके कारण भारतीय काव्य-शास्त्र में अन्य कलाओं का प्रसंगवश उल्लेख हो गया है, क्योंकि नाटक तो काव्य, संगीत, चित्र और स्थापत्य सभी कलाओं का समुच्चय है। भरत की यह उक्ति प्रसिद्ध है –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न स योगो न तत्कर्म यन्नद्येऽस्मिन्न दृश्यते।¹

अतः भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा नाट्यशास्त्र है।² इस भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास-रेखा को निर्दिष्ट करते हुए यहाँ कहा जा सकता है कि यहाँ सबसे पहले नाट्यशास्त्र का विकास हुआ, दूसरी दशा में काव्यशास्त्र (जिसमें नाट्यशास्त्र भी है) का और अन्त में इन विकास-दशाओं के सभी कारण से सौन्दर्यशास्त्र का अवरण हुआ। तदन्तर, डॉ० के०सी० पाण्डेय ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक प्रमुख अन्तर बतलाया है कि भारतीय विचारक मूर्तिकला और चित्रकला को उस रूप में स्वतन्त्र महत्त्व नहीं देते, जिस रूप में हीगेल या अन्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने दिया है। भारतीय विचारकों ने प्रायः मूर्तिकला और चित्रकला को स्थापत्य की अंगीभूत कला के रूप में स्वीकार किया है। अतः के०सी० पाण्डेय का मत है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में पाँच नहीं, तीन ही कलाओं (स्थापत्य, संगीत और काव्य) को महत्त्व दिया गया है।³

सौन्दर्यशास्त्र एक विकासशील चिन्तन परम्परा का साक्षी है। जो कला-दर्शन से अन्तर्भूत होकर एक लम्बी अन्तर्यात्रा के बाद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है।⁴

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र अपने सम्पूर्णता में एक स्वतन्त्र कला चिन्तन है। जिसकी अपनी सैद्धान्तिकी है। अपनी ऐतिहासिक विकास यात्रा है। समय के साथ बदलते अपने प्रारूप है। समाज को देने के लिए मूल्यबोध है। हाँ उसके वस्तुनिष्ठ और व्यष्टिनिष्ठ दोनों ही रूपों का अध्ययन कर उसे जान और समझ सकते हैं। वैश्विक वाग्मय में ढेर सारा साहित्य इसके आधार पर रचा गया है या तो उन साहित्यों का प्रणेता है या उन साहित्य का आधार है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र के बिना साहित्य ही क्या किसी नये सृजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कविता समाज सापेक्ष होती है और उसी से उसका सौन्दर्यबोध विकसित होता है। कार्य कारण सम्बन्धों की श्रृंखला अगर टूटती है या खण्डित होती है तो कविता की स्वाभाविकता भी उसी अनुपात में विखण्डित होती है। लोक में जाँता पर जंतसार लिखे गये। भोजपुरी कविता भी उस सौन्दर्यबोध से अछूती नहीं रही।

अपने दाँते आपन गाल
पहिलहू धरा जात रहे
अपने हाथ के हरका से आँख
पहिलहूँ लोरात रहे। पेट पहिलहूँ

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री भगवान महावीर पी०जी० कालेज, पावानगर, फाजिलनगर, कुशीनगर

**पहाड़ रहे। आदमी कीले पर पिसात रहे
लोहर का साथे जतसार रहे।⁵**

श्रम के परिहार के रूप में परिस्थिति, अपनी स्थिति को सुखमय और सुरम्य बनाने की आकांक्षा जंतसार जैसी गीतों में पूरी शिद्दत से दिखाई देती है। जंतसार कल्पना की उड़ान का एक साधन भी है। जिसके बहाने हम अपने दुःखों से थोड़े देर के लिए विभाग पा सकते हैं। हालाँकि काम कर रही महिलाएँ इस श्रम साध्यता को भूलाने के लिए जो आकांक्षा व्यक्त करती हैं वह बहुत ही छन्दात्मक होता है। श्रम और आकांक्षा का यह द्वन्दात्मक रूप जतसार की आत्मा है। यह पंक्तियाँ इस विषय को कितनी सटीकता से प्रतिपादित करती हैं। जहाँ श्रम से उत्पन्न पसीने को सुखाने के लिए बटोहिया से यह संदेश कि नौ रंग बेनिया भेजने के लिए हरि जी से कह देना।

**उतरू चइतवा हो चढु बइसखवा हो
अइली गरिमया जियरा मारन ए राम
बाट के बटोहिया से तूहू मोरे भइया हो
हमरो संदेश भइया हरि आगे कहिह हो
भेजि दिहे नौरंग बेनियवा नू ए राम।⁶**

किन्तु आधुनिकता के प्रभाव के कारण या यूँ कहे कि मशीनी युग के आने से लोक से ही जाँता गायब हो गया। तो जंतसार का सौन्दर्य बोध कहाँ से पनेपगा ? श्रम के परिष्कार की लोक बोध 'ए बहुरिया साँस ल, ढेका छोड़ जाँत ल' की अर्थवत्ता ही तिरोहित हो जाती है। गाँवों में निम्न वर्ग अपने जीविका के साधनों में व्यस्त हैं। उसके पास श्रम के परिहार की फुर्सत नहीं है। वहीं मध्यवर्ग में शहरी और कस्बाई मनोवृत्ति का आना, उसे तथाकथित आधुनिकता के तरफ अग्रसर कर देता है। जिसे आधुनिकता के सैद्धान्तिकी के चश्में से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु यह परिवर्तन सहज ही लक्षित किया जा सकता है। औद्योगीकरण ने ग्रामीण संरचना में अनेक बदलाव किया है। खेत की जुताई आज भी होती है किन्तु हल-बैल की संस्कृति तिरोहित सी हो चला है। उससे (बैल) से जुड़े सन्दर्भों को आज के समय में खोजना, तरासना न्याय के तराजू पर खरा नहीं उतरता। बदलते हुए समाज ने समय की गति को सहज ही परखा जा सकता है। सांस्कृतिक उत्सवों में परम्परागत गीत तिरोहित हो चले हैं। उनकी जगह पर फिल्मों की तुकबन्दियाँ जो तुलनात्मक रूप में ज्यादा खरी उतरती हैं, बदस्तूर चल पड़ी हैं।

भोजपुरी कविता इस बदलाव को चाहे वह खेती-किसानी में हो, धर्म, कर्म या सांस्कृतिक उत्सवों में हो पूरी शिद्दत और संवेदना के साथ रूपायित करती है।

**अब बगइचा में नइखे बइठत। नइखे खेलत
नइखे सूतत गाँव। फेड़ हरहरात पछुआ में
पतइन के टास विछावेलन स
आ फेर फेड़वे खेललन स। जुआ जिनिगी के
आ टुटहा बैसखट पर खोखत-झपकत
कवनो पुरनियाँ इयाद परावेला
कि गाँव आ बगइचा के साथ। अभइन नइखे छूटल।⁷**

भोजपुरी कविता लोक के धर्म परायण और कर्म की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है। सौहार्द का ताना-बाना बुनती है। आधुनिकता के विभिन्न उपकरण भूमण्डलीकरण, उदारीकरण से भोजपुरी कविता भी प्रभावित हो रही है। बढ़ते हुए आर्थिक दबाव के कारण विभिन्न तरह की जटिलताएँ समाज को घेर ली हैं। भोजपुरी कवि इस दृश्य को देखकर बहुत ही व्यथित हो जाता है। यही वजह है कि भोजपुरी कविता जनसामान्य के जीवन से बहुत ही दूर होता जा रहा है। परिवार, गाँव, समाज और प्रकृति की यथावत् स्थिति को भोजपुरी कवि प्रस्तुत तो कर रहा है किन्तु उसका सन्दर्भ-चित्र मन को आकर्षित कर लेता है।

भोजपुरी क्षेत्रों में आज भी बहुत से जाति विशेष है जो यजमानी प्रथा को जीवन्त रखे हुए है। जहाँ आज भी धोबी, कँहार, दर्जी, माली, नाई, बारी, चमार, लोहार अपना जीवनयापन यजमानी करके करते हैं। उनके जीवन में कोई विशेष परिवर्तन या यूँ कहे आर्थिक दृष्टिकोण का बदलता स्वरूप दिखाई नहीं देता। शहर का स्पष्ट छाप गाँव की गँवई राजनीति पर उनकी मानसिकता दूषित होती जा रही है। गाँव का हर परिवार व्यक्ति शहर की ओर जाना चाहता है क्योंकि शहर के जीवन में चकाचौंध है। गाँव में वे ही लोग रह रहे हैं जो शहर के मँहगाई में अपना गुजर-बसर करने में अक्षम हैं। भोजपुरी कविता इस अस्त-व्यस्त-मस्त जीवन को अपने में समेटने का हर सम्भव प्रयास करती है। हाँ एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि सरकारी सहयोग से गरीबी, अशिक्षा, सामाजिक विषमता पर पहल से अब स्थिति सुधारात्मक हो रही है।

भोजपुरी लोक संस्कृति की प्राचीनतम विविधता, विशिष्टता तथा विस्तार वेद संस्कृति से अधिक है। लोक संस्कृति तथा विशिष्ट संस्कृति दोनों ही संस्कृतियों परम्परावलम्बित हैं। लोक के प्रकाश से ही वेद प्रकाशित होता है और वेद की वैदिकता का लोक संवाहक है।

भोजपुरी कविता की रचना-प्रक्रिया अंकुरण से प्रस्फुटन तक बहुत ही दुःखदायी है। विपरीत परिस्थितियों में अभिव्यक्ति देने तक कवि अनेक मुश्किलें तय करता है। कवि कविता की जगह स्वयं को ही सौंपता है। फिर भी कविता अपनी सारी सम्प्रेषणीयता के बावजूद जब लोगों द्वारा सही रूप में नहीं ग्रहण की जाती तो पीड़ा और भी व्यथित करती है। इसे सतीश्वर सहाय इस रूप में सोचते हैं –

अइसन परसवती के भोगल-काटल
दिन बदल गइल बा जनम उत्सव में
कवनो गौतम सिद्धार्थ के। बोधिलाभ हो गइल
सवर्ग से उतर-पौर रहल बा
मानसरोवर में मानहंस
ओ! कतना सुख बा। आसमान छू के
धरती पर खड़ा होखे में।⁸

वास्तविकता तो यह है कि नयी संरचना को संस्कार देती हुई भोजपुरी कविता भाव प्रवण और कला प्रवीण हो गयी है। एक आम आदमी के दुःख को उकेरता हुआ, उसके संघर्षों से नाता जोड़ता हुआ कवि का मन अनायास ही नम हो जाता है। इन कविताओं में मिट्टी का सौंधापन, रागात्मक तरलता और चिन्तन की गर्मी के साथ मन को बाँधने वाली लय की आत्मिकता भी है। नये भावबोध की प्रयोगशीलता, भाषा की सृजन क्षमता, सन्दर्भ-चित्रों को नये भावों-अनुभावों से अलग करने की विशिष्टता इन कविताओं को नया रूप प्रदान करती है।

जिनिगी के पोखरा में रोज पड़े जाल
बाहर से भीतर ले गरई के हाल
कीचड़ में रात दिन जियरा बा सउनल।⁹

सौन्दर्य का एक रूप जो व्यष्टिनिष्ठ है तो दूसरा रूप वस्तुनिष्ठ है। व्यष्टिनिष्ठ सौन्दर्य ऐन्द्रिय एवं व्याष्टिवादी मन के हिल्लोल और कल्लोल उसके उपादान है तो वस्तुवादी सौन्दर्य का मूलाधार सामाजिक है। मुक्तिबोध ने लिखा है “सौन्दर्यशास्त्र एक विचित्र शास्त्र है। चूँकि हमारे जीवन की प्रधान दिशाएँ और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाएँ विभिन्न युगों में बदलती रही हैं और बदलती रहेंगी, इसलिए इस शास्त्र का वैसा विकास नहीं हो पाता जिस प्रकार का उदाहरण भौतिकशास्त्र का है जिसमें परवर्ती विचारक पूर्ववर्ती चिन्तक के सिद्धान्तों को या तो नई व्यवस्था में बाँधता है अथवा उसके कन्धे पर खड़े होकर नवनवीन विकास के परिदृश्य देखता है। सौन्दर्यशास्त्र, नीति-शास्त्र आदि मूल्य-शास्त्र होने के कारण वे सिद्धान्त मुख्यतः प्रणालियों के समवाय के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अन्तिम निर्णय करने का भार हम पर ही रह जाता है, कि उनमें से कौन-सी बात हमारे लिए स्वीकारणीय है और कौन-सी त्याज्य। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में तो सिद्धान्तों का एक जंगल का जंगल खड़ा हो गया है।”

राजनीति के भीतर जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, अपराध जैसे जनतन्त्र विरोधी तत्वों के समावेश के बाद उसका जो रूप जनमानस के सामने प्रकट हुआ वह अत्यन्त घिनौना और डरावना है। स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार ने उसको ऐसे अपने आगोश में भरा है कि वहाँ से निकल पाना दुर्लभ है, भोजपुरी कविता जन-मानस में राजनीति के प्रवेश और उसके छद्म रूप की विरोधी है। किन्तु जब भी राजनीति अपना सकारात्मक आलोक बिखेरती है, भोजपुरी कविता और सहज अपना लेती है। अपितु उसके पक्ष में आवाज बुलन्द भी करती है। कभी-कभी राजनीतिक छल-छद्म से दूर भोजपुरी जन-मानस के विकास की बाट भी जोहती है। विचार भावनाओं, संवेदनाओं, लय, भाषा, शब्द से कभी राजनीतिक तिकड़म को कभी उजागर करती है तो कभी स्वच्छ भाव से चेतना जो राजनीति की स्वाभाविक गति है, को अंगीकार करती है।

उत्तर आधुनिक युग में वैश्वीकरण और भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप जिस उपभोक्तवादी संस्कृति ने भारतीय जन-मानस में अपना स्थान बनाया है। भोजपुरी समाज भी उससे अछूता नहीं है। विकास के नये मॉडल ने व्यक्ति से भोजपुरी समाज के मन में यह भाव बहुत ही गहरे स्तर पर उत्पन्न कर दिया है कि शहर से ही विकास सम्भव है। अर्थात् उदारीकरण के युग में बाजारवादी संस्कृति ओढ़ी हुई भोजपुरी समाज में जीवन-मूल्य की जो रचना की है, उसमें ग्राम्य जीवन की उपेक्षा नागर जीवन के प्रति आसक्ति बोध है। डॉ० विमलेश कुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक *'समकालीन भोजपुरी काव्य की सामाजिक चेतना'* में अपनी ठीक ही चिन्ता व्यक्त की है – “नये संदर्भ में नये जीवन-मूल्य बनते हैं, जीवन संघर्ष के भीतर से ही जीवन-मूल्य पैदा होते हैं और गाँवों की स्थिरता टूट रही है। विभिन्न प्रगतिशील योजनाओं ने गाँव की स्थिरता में भी चंचल यायावर वृत्ति उत्पन्न कर दी है। परिवार टूट रहे हैं। परम्पराएँ विस्मृत होती जा रही हैं। औद्योगिक शहर आबाद हो रहे हैं। ग्रामीण जनता शहर की तरफ पलायित होती जा रही है। गाँव के लोगों में यह मानसिकता धीरे-धीरे घर करती जा रही है कि नगर से ही विकास सम्भव है। लोगों की इस प्रवृत्ति के कारण गाँव धीरे-धीरे खाली होते जा रहे हैं और शहरों में आबादी बढ़ती जा रही है। यह प्रक्रिया और बढ़ेगी। सब होगा, पर जीवन सुख होगा या नहीं, कोई नहीं बता सकता।”¹⁰

समकालीन भोजपुरी कविता अपने नूतन सौन्दर्य बोध के लिए जानी जाती है। जिसकी एक बड़ी विशेषता संवाद की मुद्रा भी है। प्रायः कवि पशु-पक्षी, प्रकृति से संवाद करता हुआ प्रतीत होते हैं। जब मोती बी०ए० मृगकस्तुरी लिख रहे होते हैं तो मृग से ऐसे कहते हैं जैसे कि वह मनुष्य हो –

रुकऽ-रुकऽ-ठाड़ा हो जा, काहे अगुतालऽ
हेने सुनऽ, लगे आवऽ, झुठही डेरालऽ
एक दिन परि जइहें तोहे पछताना
जिनिगी अनेर जाई मिली ना ठेकाना।¹¹

समय के साथ भोजपुरी कविता का यह सहज कहानीपन अपनी आन्तरिक संगति और लय खोती जा रही है, और जैसे ब्रजभाषा के टूटने के बाद खड़ी बोली के आने पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा – *'कविता नये चाल में ढली'* वैसे ही भोजपुरी कविता भी आन्तरिक संगति में नये चाल में ढलती हुई प्रतीत हो रही है। जो भोजपुरी कविता में नागर जीवन बोध को नये संदर्भों में ध्वनित करती है।

अशोक द्विवेदी ने अपनी कविता में गाँव के आदमी के मन में शहरीपन की बढ़ती हुई लालसा को व्यक्त करते हुए कहा है – *'गाँव अब बदल रहे हैं। वह हरहरात पछुआ'* वृक्ष की आवाज और बगीचों में झुण्ड में बैठे लोग नहीं दिख रहे हैं –

पंचाइट के दरकल देवाल में
नीचे मुसकइल ऊपर बिरनी के खोता बा
ओरी में सपटल बाड़ी स बिछकुतिया
फाँका जगह में
काहे ना अड्डा जमइहन स करइत ?

x x x x x x x x

अब बगइचा में नइखे बइठत। नइखे खेलत
 नइखे सूतत गाँव ! फेड़ हरहरात पछुआ में
 पतइन के तास विछावेलन स
 आ फेर फेड़वे खेलेलन स। जुआ जिनिगी के
 आ टुटहा बँसखट पर खोखत—झपकत
 कवनों पुरनियाँ इयाद परावेला
 कि गाँव आ बगइचा के साथ । अभइन नइखे छूटल।¹²

भोजपुरी कविता अपने बदली हुई मूल्य चेतना में जिन्दगी की जिस सार्थकता को ग्राम्य चेतना में महसूस करती है। प्रायः उतनी ही नागर जीवन में भी महसूस करती है। कुछ आलोचकों को भ्रम है कि भोजपुरी कविता केवल ग्रामीण संस्कृति की परिचायक है। मैं विशेष रूप से जोर देकर कहना चाहता हूँ कि नागर जीवन के नये मूल्यों के सामंजस्य में भी भोजपुरी कविता अपने पूरे जोश और तेवर के साथ मौजूद है। जो एक तरफ बदलते परिप्रेक्ष्य में जिन्दगी को उसके विसंगति और विडम्बनाओं के साथ सार्थक अभिव्यक्त देने में जुटी है तो दूसरी तरफ सृजन के नये आयामों की तलाश भी कर रही है। हाँ उसकी संरचनात्मक प्रवृत्ति और प्रयोग धर्मिता को कुछ आलोचक बाहरी प्रभाव मान बैठे हैं जबकि लोक—सम्पृक्ति में उपजी संवेदना सामान्तर साहित्य से निरन्तर सम्पर्क, वैविध्य से भोजपुरी कविता का अपना ठेठ तेवर और तीखापन के साथ हम उसकी गहराई का अनुभव कर सकते हैं जो भोजपुरी कविता का अपना नूतन नागर सौन्दर्य है। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि भोजपुरी कविता का कलेवर पारदर्शी और लोकदर्शी है।

विश्व वाङ्मय के प्रत्येक साहित्य में “अर्थ” किसी न किसी रूप में विद्यमान है। आज जब पूरा धर्म अध्यात्म और सांस्कृतिक मूल्य “बाजार” से नियंत्रित होने लगे हैं तो कविता का मुख्य प्रतिपाद्य भी आर्थिक हो चला है। बाजार ने अपने बाहुपास में मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक सभी संज्ञाओं को बाँध लिया है। अब तो विद्वान ये मत व्यक्त करने लगे हैं कि बाजारवाद से न अस्मत् बचनी है न अस्मिता।

ऐसा नहीं कि यह बाजारवाद किसी भी साहित्य में अचानक आ बैठा है। प्रायः हर कविता में अपने समय का सच यथार्थ के साथ प्रदर्शित होता है। फर्म जैसा कि अर्थ केन्द्रित सत्ता आज की कविता की मुख्य प्रतिपाद्य है। शायद वह प्राचीन और मध्यकालीन काव्य में उस रूप में न विराजमान रही हो। किन्तु कोई भी विद्वान इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि अर्थ किसी भी समय कविता का विषय नहीं रहा होगा। प्राचीन समय में मनुष्य अपने जीवन—यापन के लिए अर्थ का सहारा लेता रहा है। आज वही “अर्थ” मनुष्य का जीवन ही नियंत्रित करने लगा है।

हिन्दी साहित्य में भी “अर्थ” के विविध रूप देखने को मिल जाते हैं। चाहे वह प्राचीन कविता हो या मध्यकालीन। सूरदास जैसा प्रेम और सौन्दर्य का अन्यतम् गायक भी जब अपने काव्य जगत् की अन्तर्यात्रा करता है तो वह धर्म और अध्यात्म के सीधी शब्दावली के बीच जब ज्ञान, भक्ति पर जब योग की गाथा गा रहा होता है तो उपमानों की एक ऐसी श्रृंखला नियोजित करता है, जो “अर्थ” व्यवस्था के चक्की में पिसे जा रहे जनमानस की वेदना के रूप में रूपायित होती है। धन की कमी से आतुर गोपियों उधार या कर्ज लेने से भी गुरेज नहीं करती। उपमानों से लिपटी कविता की उस ध्वनि को देखिए जो एक नवीन अर्थ व्यंजना को ध्वनित करती है। यथा —

सूर मूर अक्रूर ले गये
 ब्याज निबेरत उधौ।

“मूर” और “ब्याज” का अनिवार्य प्रेम हृदयवृत्ति और बचे खुचे प्रेम के रूप में हम भले ही व्यक्त करते हो किन्तु उसका अभिधार्थ अर्थशास्त्र के महाजनी सभ्यता जैसा कुचक्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो समय का सच है।

भोजपुरी कविता में भी यह बाजारवाद प्रत्यक्ष न सही उपमानों में निहित अर्थ के रूप में व्यक्त हुई है। मध्यकालीन भोजपुरी काव्य में इसके अनेक उदाहरण हमारे सामने उपलब्ध है। धरमदास के इस

पद में एक वणिज की लोभ और लालसा को धर्म के आडम्बर में लपेट कर कितना सुन्दर वर्णन किया गया है –

हम सत्त नाम के बैपारी ।।
 कोई कोई लादै काँसा पीतल, कोई लौंग सुपारी ।।
 हम तो लाद्यो नाम नाम धनी को, परून खेप हमारी ।।
 पूँजी न टूटे नफा चौगुना, बनियज किया हम भारी ।।
 हाट जगाती रोक न सकिहैं, निर्भय गैल हमारी ।।
 मोती बुंद घट ही उपजै, सुकिरत भरत कोठारी ।।
 नाम पदारथ लाद है, धर्मदास बैपारी ।।¹³

धरमदास ज्ञानमार्ग के सन्त कवि हैं। निश्चित रूप से वे जीवन को धर्म के चादर में लपेट कर देखना पसन्द करते हैं। फिर भी उपमान का जो नूतन रूप उनकी कविता में व्यक्त हुआ है। वह एक एक व्यापारी के मुनाफाखोरी और आम आदमी के जीवन में अर्थ की भूमिका को भी एक अर्थशास्त्र के रूप में व्यंजित करता है।

पलटू साहेब ने भी अपने कविता में प्रायः इसी भावबोध को जिसमें पूँजी और हाट के साथ मनुष्य के द्वन्द्व का चित्र उकेरा है। यह उदाहरण पर्याप्त होगा –

बनिया समुझि के लादु लदनियाँ ।
 ई सब मीत काम ना अइहैं, संग ना जइहें करधनियाँ
 पाँच मने के पूँजी लदले, अतने में गरत गुमनियाँ ।।
 कर ले भजन साधु के सेवा, नाम से लाउ लगनियाँ ।।
 सउदा चाहसि त इहवे करिले, आगे न हाट दुकनियाँ ।
 पलटू दास गोहराइ के कहेले, अगवा देस निपनियाँ ।।¹⁴

ये पंक्तियाँ मनुष्य की उस सच को उजागर करती हैं जिसमें उसके रहने-खाने के साथ उसके सामाजिक पारिवारिक रिश्ते यहाँ तक कि उसके मूल्य और आस्थाएँ भी धन के आस के साथ चल पड़े हैं।

आधुनिक कविता में धन के विविध रूप सामने आते हैं। जहाँ कहीं गाँव के जीवन की विवशता को सीधे सपाट शब्दों में व्यक्त किया गया है तो कहीं चित्रों और शब्दों में। मधुकर सिंह के 'महुआ के गीत' मजदूर जिन्दगी में व्याप्त अभाव का उदाहरण कितना मन को छू जाता है –

गोबर से लिपल अँगनवाँ निहारे
 ए राजा, अबकी कमइया मुआर
 फाटल करेजवा के सबुर धरइहऽ
 ए रानी हमनी के हई बनिहार ।
 सबके बबुअवा के पुअवा छनत होई
 ए राजा मोर बाबू छछनस अगोर
 महुआ के चुनि-चुनि अँचरवा में धरिहऽ
 ए रानी घोर दिहऽ महुआ के लोर
 काहे के राम हमें मानुख बनवलनऽ
 ए राजा कइलऽ जिनिगी अन्हार ।¹⁵

आर्थिक कुचक्र के परिणामस्वरूप गरीबी, बेरोजगारी आदि का वर्णन भोजपुरी कविता में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। डॉ० विमलेश मिश्र ने अपनी पुस्तक 'समकालीन भोजपुरी काव्य की सामाजिक चेतना' में वर्णन किया है। "आज का अभिभावक कितना भी गरीब क्यों न हो, लेकिन वह अपने बच्चों को अपना शरीर बेच कर भी पढ़ाना चाहता है। पढ़ाने के बाद इस बेरोजगारी में यदि उसका लड़का

रोजगार में नहीं आता, तो अभिभावक की स्थिति और भी फटेहाल हो जाती है। तमाम संजोये हुए सपने उसके धरे रह जाते हैं। शिक्षा की उच्च डिग्री भी धारण करके वह सड़क पर आने के लिए मजबूर हो जाता है।¹⁶ इन्हीं बातों को त्रिलोकी नाथ उपाध्याय इस प्रकार कहते हैं –

एम्मे के पढ़ाई में माई के गहना बिकाइल
बीएड की कराई में खेत रेहन धराइल
डिग्री गला में बान्हि के घूमलऽ उ द्वार द्वार
कालेज के मैनेजरन के रोज नमस्कार
अखबार के हर वाण्ट पै अर्जी लिखा गइल
फारम भरे में घर के कृषि बर्तन बिका गइल।

भोजपुरी कविता आर्थिक कुचक्र में फँसे आम आदमी के जीवन में भूख और लाचारी का वर्णन बड़ी शिद्दत के साथ करती है। अनिरुद्ध जी की कविता में साँझ का जो चित्र उन्होंने खींचा है उसमें एक मजदूर परिवार के जीवन की गरीबी और लाचारी इन शब्दों में व्यक्त हुई है –

टुटही मड़इया के अइसन कहानी
अदहन का पानी में खउले जवानी
रोवेला छवँड़ा मजूरवा
मेहरिया देखे बजरिया के राह
साँझिया के उसरल बाजार।¹⁷

'साँझिया के उजरल बाजार में' छुटे-फटके किसी भी कीमत औने-पौने दाम पर बेच कर जाने वाले दुकानदारों के सड़ी-गली सामानों को लेने के लिए जिस बिन्दु का प्रयोग किया गया है जो समीचीन है और उस पर 'रोवेला छवँड़ा मजूरवा' का प्रतिबिम्ब कलेजा निकाल देता है। अभाव के बीच अपने बच्चे की पीड़ा का यह सामंजस्य जिस रूप में व्यक्त करता है वह भोजपुरी कविता की अर्थशास्त्रीय सौंदर्य बोध का अनुपम उदाहरण है। जहाँ बाजार है तो बाजार के कुचक्र भी हैं उसकी परिणति की आहट है, ध्वनियों है तो उसके परिणामस्वरूप हाहाकार करती हुई आम आदमी की जिन्दगी। यह चेतना भोजपुरी कविता की आर्थिक सौंदर्य बोध की कविता है।

संस्कृति दो शब्दों से मिलकर बना है, लोक और संस्कृति। जो अलग-अलग परिभाषिक शब्दावलियाँ हैं। लोक फोक का पर्यायवाची नहीं है। अपितु वह सम्पूर्ण जनता जिनका ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। साथ ही संसार के चर-अचर पशु-पक्षी सभी उसके भाग-अनुभाग हो जाते हैं। वैसे ही संस्कृति सम् उपसर्ग कृ धातु से निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम् उपसर्ग के आगे कृति अथवा कार शब्द के होने पर सम् + कृति: = संस्कृति तथा सम् + कार = संस्कार आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है। संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार किया हुआ, पालिश किया हुआ, दोष अथवा त्रुटियों को निकालकर शुद्ध किया हुआ। इसी प्रकार से संस्कार शब्द का भी अर्थ है। किसी वस्तु का संशोधन करना, उत्तम बनाना तथा उसका परिष्कार करना है।

आजकल संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर से निष्पन्न हो रहा है। निरुक्ति की दृष्टि से कल्चर शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा की कोलर धातु से निष्पन्न कोल्डु शब्द से हुई है। जो संक्षेप में क्रमशः पूजा करना तथा कृषि सम्बन्धित कार्यों का बोधक है। लोक संस्कृति लोक और संस्कृति के व्युत्पत्ति परक परिभाषाओं से अलग एक सम्यक् अर्थ द्योतित करती है जो इस समाज के दो वर्ग वृत्तियों मसलन पढ़ा लिखा समाज और अनपढ़ या साधारणजन की संस्कृति। जिसे शिष्ट और लोक संस्कृति के रूप में हम जानते हैं, के रूप में हम सबके समक्ष उपस्थित है। मोटे अर्थ में वेद पुराण में वर्णित इन्द्र, वरुण, विष्णु, राम, कृष्ण, उषा शिष्ट संस्कृति के उपास्य देव हैं। वहीं दूसरी तरफ डिह, डिहवार, बरम, हाकनी, डाकनी, भूत-पिशाच लोक विश्वास से उपाजित देवादि देव लोक संस्कृति के देव हैं। लोक संस्कृति कोई वायवीय अवधारणा न होकर एक सुगठित शरीर है। अतः लोक संस्कृति पर विचार करने के लिए उसके शरीर विज्ञान पर विचार करना होगा। लोक संस्कृति के शरीरशास्त्र में 'लोकायन' का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः उपर्युक्त समस्या पर विचार करते हुए बार-बार लोकायनों पर विचार करना आवश्यक है। रिचर्ड

डॉरसन अपनी पुस्तक 'फॉक लोर एण्ड फॉक लाइफ' की भूमिका में लिखते हैं कि **विश्लेषण की आवश्यकताएँ** लोकविदों को अन्तः अनुशासनिक बनाती है।¹⁸

लोक विश्वास कोई नया जीवन-मूल्य नहीं है अपितु सूफी सन्त साधकों ने भी इसका बहुतायत प्रयोग किया है, और मलिक मुहम्मद जायसी इसके प्रबलतम् उदाहरण हैं। उनकी यह एक पंक्ति लोक विश्वास को कितना गहरा करती है, दर्शनीय है –

**“मंगल बुध उत्तर दिशि कालू।
दक्षिण जाय तो होत निहालू।।”**

किस दिन कहाँ की यात्रा की जाय ? कैसे की जाय ? जाना अपरिहार्य हो तो कौन-सी विधि अपनायी जाय ? कौन-सी पक्षी किस दिशा में दिखे तो क्या फलागम होगा ? प्रायः यह लोक जीवन की लोक धुन की संगीत है। जो भोजपुरी कविता की अन्तर-आत्मा में बसना है। कौन-सा मनुष्य और मनुष्य की विरूपता क्या प्रभाव डालती है। इसकी अनेक कहावतें भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित है।

**सई में अंधा, हजार में काना।
सवा लाख में अँइचा ताना।**

और यह कहावत भी प्रचलित है –

**सर-सर साँप निकलते तेली,
विधवा नारि जब मिले अकेली,
रस्ते में यदि मिले जो काना,
बड़े भाग्य से बचहू प्राणा।**

लोक में प्रचलित अनेक अवधारणाएँ जिसका सम्बन्ध अंधविश्वासों से लिया जाता है। वह भी लोक संस्कृति का एक अभूत पूर्व अंग ही है। भोजपुरी क्षेत्र में देवी-देवता भी अन्धविश्वास से परे नहीं है। गाँवों में जब किसी को 'माता जी' (चेचक रोग) निकलती है तो उसका कोई उपचार नहीं होता। घर-परिवार में तेल का छौंक नहीं लगता है। उबली सब्जी पकती है और नीम के पत्तों से साफ-सफाई कर पूजा की जाती है। रोगी के पास बैठकर शीतला माता के गीत गाए जाते हैं। माली सुबह-शाम आता है और 'माता जी' को मनाता है। नीम के पत्तों पर रोगी को सुलाया जाता है और नीम के पंखे से रोगी को हवा दिया जाता है। यहाँ अन्धविश्वास चरम सीमा पर होता है किन्तु इसमें वैज्ञानिकता भी है।

लोक संस्कृति में लोक जीवन का आनन्द लोक रस से आता है। जिसमें पशु-पक्षी और प्रकृति उसके सहगामिनी होते हैं। मुण्डेर पर कौवे की आवाज अतिथि की आगमन की सूचक है तो उसके द्वारा ठोकर मार दिया जाना किसी अनिष्ट का सूचक। नीम और पीपल सदियों से हमारी लोक संवेदना के उदाहरण है जो पूज्य भी है और मरणोपरान्त कर्मकाण्ड के सहचर भी है। भूत-प्रेत तो लोक रस के अप्रतीम उपमान हैं। किन्तु साथ ही आत्मा को भी कैद कर लेने की परम्परा का पूरा डायन शास्त्र भी लोक में उपलब्ध है। वह जितना अप्रतिम है उतना ही अविश्वसनीय है। भोजपुरी कविता लोक विश्वास की इस समृद्ध रीति-नीति को अपना आधार बनाती है, तो साथ ही कहीं-कहीं उसे तर्क के तराजू पर तौलती भी है।

**पंचाइत के दरकल देवाल में
नीचे मुसकइल आ ऊपर बिरनी के खोता बा
ओरी में सपतल बाड़ी स बिछकुतिया
फाँफर जगह में। काहे न अड्डा जमइहन सऽ करइत ?¹⁹**

लेकिन कहीं लोक विश्वास की यह सच्ची परम्परा वही कवि जब अपनी कविता में मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के बीच समभाव को अनुस्यूत करते हैं।

इस प्रकार भोजपुरी कविता लोक संस्कृति और लोक जीवन की अप्रतिम प्रस्तावना है। जिसमें लोक, आचार-विचार के साथ ही इन्हें देखने-परखने का एक नया नजरिया भी है तो लोक संवेदना के उत्स भी। भोजपुरी कविता सामान्य अर्थों में लोक धर्मी कविता है जो भारतीय संस्कृति के उन्नयन में अपना योगदान तो लगाती ही है साथ ही अलग गरिमा भी प्रदान करती है। इस प्रकार हम कह सकते

है कि भोजपुरी कविता भोजपुरी भाषा-भाषियों में लोक संस्कार का उन्नयन करती है और उन्हें युग सन्दर्भों में अलग ढंग से प्रतिस्थापित करती है। उसमें जीवन की राग-रागिनियाँ संस्कारात् जीवन्त हो उठती हैं।

भोजपुरी कविता का सौन्दर्यशास्त्र जहाँ प्राचीन और मध्यकालीन कविताओं में आस्था, मूल्य, लोक जागरण, भक्ति, ज्ञान, प्रेम जैसी पारिभाषिक शब्दावलियों के इर्द-गिर्द ठहरता है जो परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र का ही लोक रूप है किन्तु दलित साहित्यकारों के आने के बाद परम्परागत सहानुभूति का दलित काव्य तिरोहित हो चला, उसमें गाँधी का हरिजन से दलित जैसी सहानुभूति का भाव भी है। निराला का *'दलित जनों पर करो करुणा, दीनता पर उतर आये, प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा'* जैसा काव्य भी दलित साहित्य के दायरे में समा गये। अम्बेडकर ने इसी को आधार बनाकर कहा है - *'हम समाज के सफाई कर्मचारी हैं और पुराने मूल्यों को गाड़ने का कर्तव्य हमारे कंधों पर है।'* हीराडोम की 'अछूत की शिकायत' वह पहली कविता है जहाँ दलित चिन्तन ने अपना आगाज दिया। डॉ० विमलेश कुमार मिश्र सहानुभूति एवं सह-अनुभूति के विवाद से भोजपुरी को विलग करते हैं। वे कहते हैं - "भोजपुरी साहित्य इस विवाद से अछूता है, अर्थात् इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि भोजपुरी साहित्य में अभी ये विमर्श उस रूप में नहीं हो रहे हैं जिस रूप में हिन्दी साहित्य में। यद्यपि भोजपुरी साहित्य में दलित पीड़ा ही अभिव्यक्ति पाती है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भोजपुरी साहित्य के उत्स में ही दलित है। दलितों के प्रति राग, पक्षधरता, गहरी सम्पृक्ति भोजपुरी कविता की पहचान है। सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हीराडोम की *'अछूत के शिकायत'* शीर्षक कविता इसका प्रमाण है - *हमनीं के राति-दिन मेहनत करी ले जा। दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइब। ठकुरे जे सुख से त घर में सुतल बानी। हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।'*

डॉ० मैनेजर पाण्डेय के अनुसार-हीराडोम की इस कविता में भारतीय समाज की अत्यन्त क्रूर, दमनकारी और शोषक जाति व्यवस्था के असली रूप और चरित्र की पूरी पहचान है। साथ में उसके शोषण और दमन की चक्की में पीसे जाने की यातना, पीड़ा और बेवसी का आत्मानुभूति भी है। यह एक दलित की आत्मानुभूति से उपजी कविता है, जिसका स्वभाव दलितों के प्रति केवल सहानुभूति से लिखी रचनाओं से एकदम अलग है। दलित चेतना की ऐसी कविता हिन्दी में आज भी नहीं है। सन् 1914 से पहले किसी भी भारतीय भाषा में दलित चेतना की ऐसी कविता शायद ही मिले।

प्रेमचन्द ने भी कहा है कि हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता की मिनार से उतर कर उस बच्चों वाली रुपवती का चित्र खिंचना होगा जो बच्चों को खेत की मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है। मैंने स्वतः परम्परागत और दलित की पार्थक्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है - "पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र आचार्य विश्वनाथ के *'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'* को सूत्र की तरह दोहराता है जबकि दलित लेखकों की दृष्टि में साहित्य आचार्यों द्वारा निर्मित 'रस' अधूरे एवं पूर्वाग्रहों से पूर्ण है। दलित साहित्य विद्रोह और नकार के संघर्ष से उपजा है। घोषित रसों के द्वारा दलित रचनाओं के इस केन्द्रीय भाव का मूल्यांकन नहीं हो सकता है।"²⁰

अतएव भोजपुरी कविता की देशी आधुनिकता उसका सहज प्रवाहमय देशजपन है। जो आधुनिकता की तार्किकता में भी सहज और स्वाभाविक लगती है। सांस्कृतिक उन्नयन की वाहक होती है। मूल्यों को रचती है, गढ़ती है। उसे सदा नूतन बनाने का यत्न करती है। अतएव निःसंकोच कहा जा सकता है कि भोजपुरी कविता लोक शक्ति की प्राण तत्व है। उसमें जीवन की विसंगति और विडम्बनाएं अपने सम्पूर्णता में चित्रित हैं।

संदर्भ :

1. "Beauty is a species of value"....George Santayana, the sense of Beauty, P-20
2. Willarde, arnetl, sardayana and the sence of beauty, Indiar University Press, Bloomengton, 1957, P-135
3. नाट्यशास्त्र, भरत, 1-166
4. सं० डॉ० मुन्ना तिवारी-दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (लेख डॉ० सुनैना तिवारी), पृ०सं०-251

- 5 हरिकिशोर पाण्डेय – आगे-आगे, पृ0सं0-32
- 6 सम्पादक-सुभाष चन्द्र कुशवाहा – लोकरंग 2015, जंतसार, पृ0सं0-11
- 7 भोजपुरी लोक – अशोक द्विवेदी 1993
- 8 सतीश्वर सहाय वर्मा ‘सतीश’ – आगे-आगे, पृ0सं0-28
- 9 भोला नाथ ‘‘गहमरी’’ सम्मेलन पत्रिका सितम्बर-1990
10. डॉ0 विमलेश मिश्र-समकालीन भोजपुरी काव्य की सामाजिक चेतना, पृ0सं0-80
11. डॉ0 अरुणेश नीरन-पुरइन-पात, पृ0सं0-33
12. अशोक द्विवेदी-भोजपुरी लोक, दिसम्बर-1993
13. डॉ0 अरुणेश नीरन-पुरइन पात, पृ0सं0-7
14. डॉ0 अरुणेश नीरन एवं डॉ0 चित्तरंजन मिश्र-पुरइन-पात, पृ0सं0-9
15. मधुकर सिंह-‘रुक जा बदरा’
16. डॉ0 विमलेश मिश्र-समकालीन भोजपुरी काव्य की सामाजिक चेतना, पृ0सं0-87
17. समकालीन भोजपुरी साहित्य प्रवेशांक-1996, पृ0सं0-77
18. डॉ0 विमलेश मिश्र-समकालीन भोजपुरी काव्य की सामाजिक चेतना, पृ0सं0-87
19. अशोक द्विवेदी-भोजपुरी लोक-1993, पृ0सं0-23
20. डॉ0 मुन्ना तिवारी-दलित साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र, पृ0सं0-13